भारतीय वाङ्मय एवं शिक्षक-शिक्षार्थी संकल्पना

नेहा शर्मा
जयपुर

भारतीय वाङ्मय

भारतीय वाङ्मय अर्थात् वह साहित्य जिसमें वैदिक परम्परा का अनुसरण हुआ हो तथा वेद को उपजीव्य मान कर ग्रन्थलेखन किया गया हो, ऐसे साहित्य को ही भारतीय वाङ्मय की संज्ञा से अलंकृत किया गया है। भारतीय वाङ्मय में वेद, आदिकाव्य रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, उपनिषद्, पुराण, दर्शन, हिन्दी साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, प्राकृतभाषा साहित्य इत्यादि अनेक रचनाओं का समावेश किया जाता है।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी संकल्पना

मनुष्य की अन्तर्निहित अज्ञानता के आवरण को शिक्षा द्वारा हटा कर पूर्णता को अभिव्यक्त करने वाले को शिक्षक की संज्ञा दी जाती है। आदर्श शिक्षक की भारतीय संकल्पना को उजागर करने के लिए शिक्षक के स्वरूप, शिक्षण-विधि तथा शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध आदि प्राचीन भारतीय शैक्षिक संदर्भों के साथ वर्तमान समय में उसकी उपयोगिता का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

शिक्षक शब्द में शिक्षक का अर्थ गुम्फित है। 'वैदिक सम्पत्ति' नामक पुस्तक में प्रतिपादित शिक्षक शब्द में निहित अक्षरार्थ को ध्यान में रखते हुए शिक्षक के लिए हम कह सकते हैं, कि ऐसा व्यक्तित्व जो स्वयं ज्ञान की पूर्णता एवं व्यापकता को प्राप्त कर अज्ञानता का नाश करते हुए ज्ञान का प्रकाश कर दूसरों को प्रभावशाली ज्ञानवान और सुखी बना सके। प्रायः इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति भारतीय वाङ्मय में विद्वानों ने अपनी-अपनी तरह से प्रस्तुत की है। महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक ग्रन्थ में लिखा है कि -

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ।।[1]

अर्थात् किसी शिक्षक में तो स्वयं उत्तम गुण की पात्रता होती है और किसी शिक्षक को दूसरे को वह गुण सिखाने में विशेष प्रवीणता होती है। जिसमें दोनों ही विशेषताएँ हों, वही शिक्षकों में सर्वश्रेष्ठ माना जाना चाहिए।

'शिक्षणं करोति यः सः शिक्षकः' जो शिक्षण, सीखने-सिखाने का कार्य करता है, वह शिक्षक है। शिक्षक के लिए आचार्य, उपाध्याय, उपदेशक, गुरु आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

शिक्षक अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा आध्यात्मिक प्रज्ञा का नई पीढ़ियों तक पहुँचाने का सोपान। भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत शिक्षक (गुरु) अपने शिक्षार्थी को शिक्षा देता है या कोई विद्या सिखाता है। बाद में वही शिक्षार्थी शिक्षक के रूप में दूसरों को शिक्षा देता है। यही क्रम चलता जाता है। यह परम्परा सनातन धर्म की सभी धाराओं में मिलती है। शिक्षक-शिक्षार्थी की यह परम्परा ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में हो सकती है, जैसे- अध्यात्म, संगीत, कला, वेदाध्ययन, वास्तु आदि। भारतीय संस्कृति में शिक्षक का बहुत महत्व है। कहीं शिक्षक अर्थात् गुरु को ''ब्रह्मा-विष्णु-महेश'' कहा गया है, तो कहीं 'गोविन्द'।

'गु' शब्द का अर्थ है अंधकार (अज्ञान) और 'रु' शब्द का अर्थ है प्रकाश या ज्ञान। अज्ञान को नष्ट करने वाला जो ब्रह्म रूप प्रकाश है, वह गुरु है। आश्रमों में गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वाह होता रहा है। भारतीय संस्कृति में गुरु को अत्यधिक सम्माननीय स्थान प्राप्त है। भारतीय इतिहास में गुरु की भूमिका समाज को सुधार की ओर ले जाने वाले मार्गदर्शक के रूप में होने के साथ क्रान्ति को दिशा दिखाने वाली भी रही है। अर्हद्गीता में गुरु अर्थात् शिक्षक को दिग्मण्डल के समान उपमा दी गयी है -

गुरुर्नेत्रं गुरुर्दीपं सूर्याचन्द्रमसौ गुरुः।
गुरुर्देवो गुरुः पन्था दिग्गुरुः सद्गतिर्गुरुः।।[2]

अर्थात् संसार में गुरु ही नेत्र है, गुरु दीप है, गुरु सूर्य-चन्द्र है, गुरु ही देवता है, गुरु ही सन्मार्ग है, गुरु ही दिग्मण्डल है तथा गुरु ही सद्गति स्वरूप माना गया है। जैसा कि भारतीय संस्कृति में विदित है कि गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊपर माना गया है -

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

प्राचीन काल में शिक्षक और शिक्षार्थी के संबंधों का आधार था शिक्षक का ज्ञान, मौलिकता और नैतिक बल, उनका शिष्यों के प्रति स्नेह भाव, तथा ज्ञान बांटने का निःस्वार्थ भाव, शिक्षक में होती थी गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा, गुरु की क्षमता में पूर्ण विश्वास तथा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण एवं आज्ञाकारिता, अनुशासन शिष्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण माना गया है।

शिष्य अर्थात् छात्र, अन्तेवासी एवं विद्यार्थी माना जाता है। दीक्षातत्त्व और तन्त्रसार में शिष्य का लक्षण इस प्रकार कहा गया है -

''जो वाक्य, मन, काय और धन द्वारा गुरु शुश्रू में रत रहते हैं, वैसे गुणविशिष्ट व्यक्ति ही शिष्य कहलाते हैं। अर्थात् मन, वाक्य, काय और कर्म द्वारा देवता और गुरु की जो शुश्रू करते हैं तथा सर्वदा शुद्धभाव और महोत्साह युक्त होते हैं, वे भी शिष्य के योग्य हैं।[3]''

शिष्यत्व यानी जिज्ञासा (बोध की उत्कट इच्छा) स्वरूप की खोज की छटापटाहट, आकुलता। जिज्ञासा और अनुभूति का जो मिलन होता है, वही शिक्षक और शिष्य का मिलन है। आचार्य चाणक्य ने शिष्य के धर्म के विषय में कहा है, कि शिष्य को शिक्षक की इच्छा का अनुवर्ती होना चाहिए - 'गुरुवशानुवर्ती शिष्यः।[4]'

शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच केवल शाब्दिक ज्ञान का ही आदान प्रदान नहीं होता था, बल्कि शिक्षक अपने शिक्षार्थी के संरक्षक के रूप में भी कार्य करता था। उसका उद्देश्य रहता था, कि शिक्षक उसका कभी अहित सोच भी नहीं सकते। यही विश्वास शिक्षक के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा और समर्पण का कारण रहा है। आचार्य मनु ने मनुस्मृति में बताया है, कि किस प्रकार के शिष्यों को शिक्षक अध्यापन करावें -

अध्येष्यमाणयथाशास्त्रस्त्वाचान्तो ह्युदङ्मुखः।
ब्रह्मांजलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः।।[5]

अर्थात् शिक्षक से पढ़ने की इच्छा वाला शिष्य शुद्ध वस्त्र धारण कर, शास्त्रोक्त विधि से आचमन करके उत्तर दिशा में मुँह करके जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मांजलि करके शिक्षक के समीप बैठे और ऐसे शिष्य को शिक्षक अध्यापन करावे।

भारतीय वाङ्मय में आदर्श शिक्षक के गुण[6] -

- शिक्षक का ज्ञान एवं कार्य-व्यवहार आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित हो।
- शिक्षक को अपने विषय का सम्यक् ज्ञान हो।
- शिक्षक को अपने विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों तथा परिवेश आदि का भी ज्ञान हो।
- शिक्षक यज्ञीय भाव के साथ शिक्षण सम्पादित करे।
- शिक्षक को बाल मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान हो।
- शिक्षक यौगिक साधना से युक्त हों।

- शिक्षक में जीवन पर्यन्त जिज्ञासु बने रहने का भाव हो।
- शिक्षक में अपने दोषों को स्वीकारने का भाव हो।
- शिक्षक में अभिव्यक्ति की क्षमता हो।
- शिक्षक का अनुकरणीय आचरण हो।
- शिक्षक की वाणी मधुर हो तथा वह शान्त विनम्र स्वभाव वाला हो।
- शिक्षक की स्वाध्याय में निरन्तरता हो।
- शिक्षक में निरन्तर स्व मूल्यांकन का भाव हो।

कामन्दकीय नीतिसार में शिक्षक के लिए अनुशासित होना अत्यावश्यक है, क्योंकि वह शिक्षार्थी के लिए जीता जागता उदाहरण है। शिक्षार्थी अध्यापक को देख कर ही अनुशासित रहना सीखता है। इस कारण सर्वप्रथम मन को नियंत्रण में रखना चाहिए -

विषयामिष लोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम्।

तन्निरुन्ध्यात्प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥[7]

विषयभोग की लालसा से मन ही इन्द्रियों को प्रेरित करता है। इन्द्रियों का विषयों से योग न होने देना ही इन्द्रियनिग्रह है, इस कारण यत्नपूर्वक मन को नियंत्रित रखना चाहिए। मन की विजय से ही इन्द्रियविजय का मार्ग प्रशस्त होता है-

प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम्।

ज्ञानांकुशेन कुर्व्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम्॥[8]

विषयरूपी विशाल अरण्य में दौड़ते हुए इन्द्रियरूपी विक्षुब्ध हाथी को ज्ञानरूपी अंकुश से नियंत्रित कर लिया जाता है, अतः सांसारिक कष्टों से युक्त मार्ग में भटके हुए मनुष्य भी शास्त्रज्ञान द्वारा इन्द्रियों का निग्रह करते हुए अपने मन को नियन्त्रित कर लेते हैं। यदि शिक्षक इन्द्रियों को अनुशासन में नहीं रखेगा, तो वह लौकिक या आध्यात्मिक जगत् में कोई भी कार्य उचित प्रकार से नहीं कर सकता ।

शिष्य का शिक्षक के प्रति आदरभाव अपेक्षित

भारतीय वाङ्मय में एक शिष्य का शिक्षक प्रति सम्मान व आदर का भाव किस प्रकार होना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए आचार्य मनु ने मनुस्मृति में विस्तार से उल्लेख किया है। शिष्य के आचरण के विषय में मनु लिखते हैं -

आसीनस्य स्थितिं कुर्यादभिगच्छँस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावँस्तु धावतः।।[9]

अर्थात् यदि शिक्षक बैठे हों तो स्वयं उठ कर, खड़े हों तो सामने जा कर, आते हों तो सम्मुख चल कर, चलते हों तो उनके पीछे दौड़ कर, शिक्षक की बात सुननी चाहिए।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः।।[10]

अर्थात् शिक्षक मुहँ फेर कर खड़े हों तो सामने जा कर, दूर हों तो समीप जा कर, लेटे हों तो प्रणाम कर, समीप बैठे हों, तो सिर नीचे करके या झुक कर बात को सुने।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्।।
गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः।।[11]

अर्थात् शिष्य को परोक्ष में शिक्षक का नाम लेकर भी सम्बोधित नहीं करना चाहिए, अपितु चलने, फिरने, बोलने या किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा की नकल भी नहीं करनी चाहिए। साथ में जहाँ शिक्षक का उपहास अथवा निन्दा होती हो, वहाँ कानों को बन्द कर लें अथवा कहीं अन्यत्र चले जाएँ।

शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध

भारतीय वाङ्मय में शिक्षक तथा शिक्षार्थी का सम्बन्ध आदर्श होने के कारण अनुकरणीय रहा है। प्रायः माता-पिता ही बालक के प्रथम शिक्षक माने जाते हैं, किंतु वैदिक काल में भारत में पिता का स्थान शिक्षक को ही प्राप्त था। प्राचीन काल में शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान था[12] । नीतिवाक्यामृत में कहा भी है - ''पितरमिव गुरुमुपचरेत्।''[13] अर्थात् शिष्य शिक्षक के साथ पिता के समान व्यवहार करे।

शिक्षक शिक्षार्थी का आध्यात्मिक पिता माना जाता था और वह बौद्धिक शिक्षा भी प्रदान करता था। वह शिष्य में किसी भी तरह की शैक्षणिक गुणवत्ता की न्यूनता का भी उत्तरदायी माना जाता था[14] । अर्थात् यदि शिक्षार्थी में किसी तरह की त्रुटि देखी जाती थी, तो उसकी त्रुटि का उत्तरदायित्व समस्त शिक्षकों का ही माना जाता था। कहा भी है -''अतीत्य बन्धूनवलङ्घ्य मित्राण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः।[15]'' अर्थात् बन्धुओं तथा मित्रों को छोड़ कर शिष्य का दोष केवल

उसके शिक्षक पर आ पड़ता है। शिक्षार्थी के चरित्र का निर्माण व रक्षा करना भी शिक्षक का परम कर्त्तव्य व धर्म माना जाता था। शिक्षार्थी भी सर्वथा सभी प्रकार के कर्तव्यों का बोध रखता था, जैसे कि क्या ग्रहण करना है और क्या त्याज्य है।

शिक्षार्थी के प्रति शिक्षक के कर्तव्य मुख्यतः निम्न प्रकार थे -

- शिक्षक शिक्षार्थियों का मानसिक तथा आध्यात्मिक पिता समझा जाता था, अतः वह छात्रों की न्यूनताओं के लिए उत्तरदायी होता था।
- वह शिक्षार्थी के आचरण पर नियंत्रण रखता था और उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान कराता था।
- वह शिक्षार्थियों के भोजन, स्वास्थ्य तथा शयन के संबंध में आवश्यक निर्देश देता था।
- गरीब शिक्षार्थियों के लिए भोजन, चिकित्सा तथा छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करता था।
- निःस्वार्थ भाव से शिक्षा देना तथा शिक्षार्थियों के यश की कामना करना।
- शिक्षार्थियों के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास में सहयोग करना।
- शिक्षार्थियों को जीवन के चरम सत्य का ज्ञान प्रदान करना।
- शिक्षार्थी की क्षमताओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना तथा उनके अनुरूप शिक्षा-सामग्री एवं शिक्षण विधि का प्रयोग करना।

शिक्षक सर्वदा शिक्षार्थियों को नये-नये विषय का ज्ञान प्रदान करते थे। वे अपना सम्पूर्ण ज्ञान शिष्यों को ही प्रदान करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे, कुछ भी अपने पास गुप्त नहीं रखना चाहते थे। गुरु कभी भी नहीं चाहता था कि उसके शिक्षार्थियों के ज्ञान में कोई न्यूनता रहे और कहीं अपमान का भागी बनना पड़े[16] ।

अर्थात् शिक्षक ने जो कुछ भी किसी भी प्रकार विद्या ग्रहण की है, वह सब कुछ शिक्षार्थियों को समर्पित कर देना चाहता था।

श्रीमद्भगवद्गीता में शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध को परिभाषित करते हुए बताया है -

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।[17]

अर्थात् गुरु के उपदेश से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिए शिष्य में जिस भावना तथा बौद्धिक क्षमता का होना आवश्यक है, उसका भी यहाँ वर्णन किया गया है। वैसे तो साष्टाँग दण्डवत् शरीर से किया जाता है, परन्तु यहाँ प्रणिपात शब्द से शिष्य का प्रपन्नभाव और नम्रता गुरु के प्रति आदर एवं आज्ञाकारिता अभिप्रेत है। सामान्यत लोगों को अपने ही

विषय में पूर्ण अज्ञान होता है। वे न तो अपने मन की प्रवृत्तियों को जानते हैं और न ही मनःसंयम की साधना को। अतः उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि वे गुरु के समीप रह कर उनके दिये गये उपदेशों को समझने तथा उनके अनुसार आचरण करने में सदा तत्पर रहें।जिस प्रकार जल का प्रवाह ऊपरी धरातल से नीचे की ओर होता है, उसी प्रकार ज्ञान का उपदेश भी ज्ञानी गुरु के मुख से जिज्ञासु शिष्य के लिये दिया जाता है। इसलिये शिष्य में नम्रता का भाव होना आवश्यक है, जिससे वे उपदेश को यथावत् ग्रहण कर सकें।

शिक्षकों के प्रति शिक्षार्थियों के कर्तव्य प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं -

- शिक्षकों के साथ पिता के समान व्यवहार करें - 'पितरमिव गुरुमुपचरेत्'[18]।
- शिक्षक की आज्ञा का पालन करना सब गुणों से बढ़ कर है - 'गुर्वाज्ञाकरणं हि सर्वगुणेभ्योऽतिरिच्यते'[19] ।
- सन्देह होने पर शिष्य इस प्रकार पूछे कि शिक्षक कुपित न हो - ''संदिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत्''[20]।
- गुरु की आज्ञा पर विचार नहीं करना चाहिए - ''आज्ञा गुरुणामविचारणीया''[21] ।
- शिक्षार्थियों का बाह्य व्यवहार भी शिक्षकों के प्रति उपयुक्त होना चाहिए।
- उन्हें शिक्षकों को उचित ढंग से अभिवादन करना चाहिए।
- उन्हें शिक्षक के समक्ष उच्च आसन नहीं ग्रहण करना चाहिए।
- उन्हें आकर्षक वस्त्र भी शिक्षक के सामने धारण नहीं करना चाहिए।
- उनके लिए परनिंदा करना वर्ज्य था।
- शिक्षक की आज्ञा का पालन, शिक्षकगृह की अग्नि को प्रज्वलित रखना।
- शिक्षक के यहाँ गायों को चराना, ईंधन इकट्ठा करना, बर्तन साफ करना और शिक्षक गृह की सफाई करना।
- सादा जीवन व्यतीत करना, विद्याभ्यास करना, संयमित जीवन व्यतीत करना तथा साधारण एवं उत्तेजना-रहित भोजन करना।
- ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।
- भिक्षा माँगना सभी के लिए अनिवार्य था।
- शिक्षक तथा शिक्षार्थी का संबंध विद्यार्थी जीवन के समाप्त होने के बाद भी पूर्ववत् बना रहता था।

शिक्षार्थी जीवन के अतिरिक्त शिक्षक-शिक्षार्थी का पारस्परिक सम्बन्ध

यह भी देखा जाता है, कि जो शिक्षार्थी विद्या-समाप्ति के पश्चात् घर जाकर पुनः शिक्षक के समीप आ कर उनको उपहार प्रदान करते थे। शिक्षक भी उन्हें पुनरागमन के लिए कोई फल प्रदान करते थे। इसी प्रकार शिक्षक भी शिक्षार्थी के घर-घर जा कर उनको देखते थे और सीखी गयी विद्या के बारे में चर्चा किया करते थे।

शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् भी शिक्षक-शिक्षार्थी-सम्बन्ध निरन्तर जारी रहता था तथा इससे दोनों को व्यवहार में कहीं पर भी स्वार्थभाव नहीं दिखायी देता था। शिक्षक-शिक्षार्थी दोनों में आध्यात्मिक सम्बन्ध था। किसी व्यावसायिक लेन-देन का कोई चिन्तन नहीं था। शिक्षक-शिक्षार्थी दोनों एक दूसरे के कल्याण की भावना से प्रार्थना करते थे - ऊँ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ऊँ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः ।[22] ऐतरेयोपनिषद् के तृतीय अनुवाक में आचार्य अपने और शिष्य के अभ्युदय की कामना करते हुए कहता है- सह नौ यशः। सह नौ ब्रहवर्चसम्।।[23] अर्थात् आचार्य और शिक्षार्थी दोनों का यश एक साथ बढ़े, एक साथ दोनों का ब्रह्मतेज बढ़े।

शिक्षक-शिक्षार्थी का सम्बन्ध सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन में भी परस्पर उपयुक्त सन्तुलन स्थापित करने में सहयोगी रहा है। शिक्षक शिक्षार्थी का चरित्रनिर्माण कर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थो की प्राप्ति में सहायक और उत्प्रेरक रहा है। यही कारण है कि आज भी हमारी वैदिककालीन अद्वितीय शिक्षापद्धति अमर है। शिक्षक जो शान्त, विनयशील, शुद्धात्मा, सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त, शम आदि साधनों से सम्पन्न, श्रद्धालु, सुस्थिर विचार वाला, खानपान में शारीरिक शुद्धि से युक्त, धार्मिक, शुद्धचित्त, सुदृढ़ व्रत एवं सुस्थिर आचार से युक्त, कृतज्ञ एवं पाप से डरने वाला होता है, ऐसे शिक्षक की सेवा में आस्था, श्रद्धा और विश्वास से ज्ञान प्राप्त होता है। कहा भी गया है कि - ''श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्''। ज्ञानार्जन करके शिष्य अपने शिक्षक के समान तेजस्वी एवं ओजस्वी बनने में सफल होता था।

अर्थात् एक अच्छे शिक्षक का कार्य शिक्षार्थी के स्वयं द्वारा सीखने की प्रक्रिया में सहायक बनना है। वह छात्र को ऐसी पृष्ठभूमि प्रदान करे जिससे शिक्षार्थी स्वयं सीखने के लिए अभिप्रेरित हो जाए। यद्यपि एकलव्य ने अपने किसी शिक्षक से विधिवत शिक्षा ग्रहण नहीं की थी, किन्तु वह गुरु द्रोणाचार्य को ही अपना शिक्षक मानने लगा था। इस कारण अपने शिक्षक अर्थात् गुरु द्रोणाचार्य को पूर्ण श्रद्धा व मन से सम्मानभाव से देखने व समझने के कारण ही आज एकलव्य का नाम भारतीय वाङ्मय में आदर्श शिक्षार्थी के रूप में स्वीकार किया जाता है। सच्चे मन से स्वीकार किए गए गुरु की महिमा भी भारतीय वाङ्मय में प्रसिद्ध व शास्त्रोक्त है, अतः एकलव्य का प्रसंग सर्वदा स्मरणीय है।

सन्दर्भ

1. मालविकाग्निमित्र - 1/16
2. अर्हद्गीता - 24/15
3. हिन्दी विश्वकोश - पृ.सं. 118
4. चाणक्यसूत्राणि - 337
5. मनुस्मृति - 2/70
6. वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति।
7. कामन्दकीय नीतिसार।
8. कामन्दकीय नीतिसार।
9. मनुस्मृति - 2/116
10. मनुस्मृति - 2/197
11. मनुस्मृति - 2/199-200

12. पुत्रमिवैनमभिकांक्षन्।। आ.ध.सू. 1/2/8/24
तस्माच्छोत्रियमनूचानमप्रजोऽजोऽसीति न वदन्तीति।। वशिष्ट.ध.सू. 2/10
13. नीतिवाक्यामृत - 11/24
14. अतीत्य बन्धूनवलम्ब्य शिष्यानाचार्यमागच्छति शिष्यदोषः। पंचतंत्रम् 1/21
15. पंचरात्रम् - 1/21
16. नाहमिदं वेद। यद्यवेदिषं कथं ते नावक्ष्यामीति।
स्मूलो वैष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। प्रश्नोपनिषद् 6/1
17. श्रीमद्भगवद्गीता - 4/34
18. नीतिवाक्यामृत - 11/24
19. त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र - 1/8
20. नीतिवाक्यामृत - 11/15
21. रघुवंश महाकाव्य - 14/46
22. कठोपनिषद।
23. ऐतरेयोपनिषद् - तृतीय अनुवाक

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. शिक्षा वेदांग, डॉ.सुदर्शन देव आचार्य एवं डॉ. बलवीर आचार्य, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1997
2. वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति, डॉ. लक्ष्मीचन्द आचार्य, श्री सोमनाथ ढल संजय प्रकाशन, दिल्ली - प्रथम संस्करण 1997
3. बृहद संस्कृत निबन्ध कलिका, आचार्य पं. शिवप्रसाद द्विवेदी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली - 1998 ।
4. संस्कृतनिबन्धशतकम्, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, - 2004 ।
5. भारतीय शिक्षा की समस्याएँ तथा विद्यालय प्रबन्ध, डॉ. रामपालसिंह एवं प्रो. पृथ्वी सिंह, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधुपर - प्रथम संस्करण 1999 ।
6. शिक्षा का वैश्वीकरण - डॉ. मोतीलाल जोशी,राजस्थान शिक्षक प्रशिक्षण विद्यापीठ एवं राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन, शाहपुरा बाग, जयपुर - प्रथम संस्करण 2012
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
8. बृहद् विश्वसूक्ति कोश, डॉ.श्याम बहादुर वर्मा, डॉ. मधुवर्मा, प्रभात प्रकाशन, 4/19, आसफअली रोड़, नई दिल्ली, संस्करण - 2000
9. हिन्दी विश्वकोश, सम्पादक - नगेन्द्रनाथ वसु, प्रकाशक - बी.आर.पब्लिसिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली।
10. विश्व संस्कृत सूक्तिकोश, महोपाध्याय ललित प्रभसागर, प्रकाशन - कन्हैया लाल गोयल, भाषा भवन, हालनगंज, मथुरा, द्वि.सं. 2000